

International Journal of Multidisciplinary Trends

E-ISSN: 2709-9369

P-ISSN: 2709-9350

www.multisubjectjournal.com

IJMT 2020; 2(1): 44-47

Received: 13-11-2019

Accepted: 16-12-2019

डॉ. नीरव अडालजा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
भारत

भारतीय समाज में दलित

डॉ. नीरव अडालजा

प्रस्तावना

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि भारत के सभी समुदायों या समाजों में निम्न स्तर पर पाये जाने वालों को अछूत या अस्पृश्य माना गया है जिन्हें विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। समय के अन्तराल में इस वर्ग के लोगों ने अपनी अलग सामाजिक पहचान बनाने का प्रयास किया या वे जिस समुदाय के अंग हैं उसमें रहकर ही अपनी स्थिति को उन्नत करने का हर संभव प्रयास करते रहे हैं। यद्यपि उनके सभी प्रयास सुचारु नहीं हो पाये हैं। यही नहीं, बल्कि यह कहा जाए कि उनके प्रयासों या आन्दोलनों का इतिहास या सामाजिक अध्ययन अथवा साहित्य में सम्यक रूप से लिखित विवरण, उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा क्यों हुआ है, इसकी चर्चा नीचे करेंगे। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अछूत या सबसे निम्न स्तर के लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय रही है, चाहे वे जनसंख्या बहुल हिन्दू समुदाय के अंग हैं या फिर मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि अल्पसंख्यक समुदायों के, जिसमें वे हिन्दू-धर्म छोड़कर गये हैं और स्वेच्छा से इन धर्मों को अपनाकर इन समुदायों की सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था के अंग बन गये हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अल्प-संख्यक धर्म एवं उनकी समाज व्यवस्था सैद्धान्तिक रूप में समानता, भाईचारा एवं दया-भाव पर आधारित है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी अन्तर सामाजिक स्तरीकरण से मुक्त नहीं हैं। फलस्वरूप, अछूतों की सामाजिक स्थिति वहाँ पर भी बदतर ही है। यद्यपि अल्पसंख्यक समुदायों में अछूतों की संख्या बहु-संख्यक हिन्दू समुदाय के अछूतों की संख्या जो कि करोड़ों में है, की तुलना में बिल्कुल ही नगण्य है।

हिन्दू अछूत अनेक जातियों एवं उप-जातियों में बंटे हुए हैं जिसके फलस्वरूप उनमें आपसी समानता एवं भाई-चारे का अभाव है। इसके लिए उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, हिन्दू समुदाय स्वयं में असंख्य जातियों एवं उप-जातियों में बंटा हुआ है एवं उसके सामाजिक-आधार में ही समानता और भाई-चारे का अभाव है। यही नहीं, बल्कि इन जातियों और उनकी उप-जातियों में आपसी विवाह-सम्बन्ध, नातेदारी, बान्धुत्व आदि वर्जित रहे हैं जिसके फलस्वरूप न केवल सैद्धान्तिक अपितु व्यावहारिक दृष्टि से वे एक बंद सामाजिक-स्तरीकरण व्यवस्था में बंधी हुई हैं। ऐसी व्यवस्था में सदियों से अछूतों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्थिति अत्यंत दयनीय रही है। मन्दिरों में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध, खान-पान तथा मिलने-जुलने में छूत-छात, शादी-विवाह में भेद-भाव, पुरोहितों एवं समुदाय के अन्य सेवा-कर्मियों की सेवाओं से वंचित, अन्य जातियों के समान रीति-रिवाजों, त्यौहारों आदि के मनाने पर रोक, इत्यादि के कारण अछूतों की स्थिति जानवरों से बदतर रही है, जो न केवल हिन्दू समुदाय वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिये एक कलंक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस बात को प्राकार्यात्मक सिद्धान्त में विश्वास करने वाले समाजशास्त्री भी नकार नहीं सकते।

दलित आंदोलन की प्रकृति

अछूतों की अभाव-ग्रस्त एवं दयनीय स्थिति को देखते हुए उनकी सामाजिक-आर्थिक व धार्मिक स्थिति में सुधार लाने तथा हिन्दू समाज-व्यवस्था में परिवर्तन करने हेतु पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश के अनेक भागों में कई समाज-सुधार आंदोलन हुए। किन्तु ये आन्दोलन चूँकि उच्च जातियों एवं वर्गों के सुधारकों द्वारा आरम्भ किये गये थे, इसलिए वे हिन्दू समुदाय के निम्न-स्तर विशेषकर अछूतों को आंदोलन में सम्मिलित करने तथा उनकी सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति में कोई विशेष सुधार लाने की दृष्टि से सक्षम नहीं रहे। यही नहीं चूँकि ये समाज-सुधार आंदोलन औपनिवेशिक शासन-तंत्र के समय किये गये थे इसलिए उनकी अंतिम परिणति समाज सुधार न रहकर, उस शासन-तंत्र से आजादी या सत्ता-परिवर्तन की तरफ उन्मुख हो गयी जो इस शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में पूरी तरह परिलक्षित हुई।

इसके समानान्तर देश के अन्य भागों में हिन्दू अछूतों ने भी अपनी सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिये छिट-पुट आंदोलन किये, पंजाब का आदि-धर्मी आन्दोलन, उत्तर-प्रदेश के आगरा-क्षेत्र का जाटव आंदोलन, पूर्वी उत्तर-प्रदेश का रविदास व केशवनाारायण आंदोलन, मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ का सतनामी आंदोलन, महाराष्ट्र में फुले का आन्दोलन, बंगाल

Corresponding Author:

डॉ. नीरव अडालजा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
भारत

का नामशूद्र आन्दोलन, दक्षिण भारत में केरल में श्री नारायण धर्म, परिचालन आन्दोलन तथा तमिलनाडु में पेरियार नायकर का आत्म-सम्मान सम्बन्धी आन्दोलन प्रमुख रहे हैं। मोटे तौर पर पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू होकर इस शताब्दी के तीन दशकों तक अछूतों तथा कुछ हद तक पिछड़ों को इस देश का मूल निवासी सिद्ध करते हुए जहाँ आन्दोलनों को एक तरफ आर्यो या उच्च-जातीय हिन्दुओं को शोषक एवं भेद-भाव करने वाला माना, वहीं पर अछूतों और पिछड़ों को उनकी अस्मिता की पहचान भी करायी। साथ ही उनकी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में सुधार लाने के लिये स्वयं उनका आह्वान किया।

यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि ये सभी कुछ सीमा तक अपने उद्देश्यों में सफल हो पाये, क्योंकि एक तो जैसा कि ऊपर कहा गया है, अछूतों के अनेक जातियों तथा धर्मों में बंटे होने के कारण वे एकमत होकर इन आंदोलनों के साथ नहीं जुड़ पाये, दूसरे चूँकि ये सभी आन्दोलन मुख्यतया हिन्दू समुदाय की उच्च-जातियों तथा उसकी पूरी समाज व्यवस्था के विरुद्ध थे, इसलिए उच्च जातियों ने इनका विरोध किया तथा उनके बुद्धिजीवियों ने उन्हें सम्प्रदाय कहा। तीसरे, समाज-सुधार आंदोलनों की भाँति इन आन्दोलनों ने भी इस शताब्दी के शुरुआती दशकों में अछूतों एवं पिछड़ों के सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के अतिरिक्त उनके राजनैतिक अधिकारों की तरफ विशेष स्थान दिया। इन तीनों कारणों से अछूतों तथा पिछड़ों द्वारा चलाये गये सभी आंदोलन अपने प्रमुख उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं हो पाये।

यह भी सच है कि अछूतों व पिछड़ों के सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को भारत में चले आ रहे औपनिवेशिक-शासन से अपरोक्ष-रूप से समर्थन प्राप्त हुआ, जिसके तहत इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए सरकार द्वारा अनेकों कानून बनाये गये। यही नहीं बल्कि हिन्दुओं सहित अनेक समुदायों के रीति-रिवाजों, संस्थाओं आदि में सुधार लाने के लिए भी कानून बनाये गये, जिन्हें इन समुदायों के प्रबुद्ध-वर्गों का समर्थन प्राप्त था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक तक अछूतों द्वारा चलाये गये सामाजिक-आन्दोलनों के प्रमुख उद्देश्यों में आमूल परिवर्तन आ चुका था। उसके अनुसार तत्कालीन राजनैतिक सत्ता में अछूतों की समान साझेदारी के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों पर समानता, समाजिक न्याय तथा उचित हिस्सेदारी का मुद्दा महत्वपूर्ण बन चुका था। इसके अतिरिक्त उनकी अस्मिता व सामाजिक-राजनैतिक पहचान का प्रश्न भी प्रमुख हो गया था।

अछूतों के सामाजिक-राजनैतिक आंदोलन के इस दौर में देशव्यापी स्तर पर दो प्रमुख राजनैतिक शक्तियों ने उनके राजनैतिक व सामाजिक अधिकार दिलाने में प्रमुख भूमिका निभाई थी। चाहे राजनैतिक विवशता-वश ही सही, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में अछूतों के मन्दिर-प्रवेश, अस्पृश्यता एवं उनकी असमानता का प्रश्न उठाया। वास्तव में गाँधी के लिये ये सभी प्रश्न प्रमुख-रूप से सामाजिक, धार्मिक व नैतिक थे जिन्हें सामाजिक सुधारों के साथ-साथ लोगों का हृदय-परिवर्तन करके हल किया जा सकता था। बल्कि यही नहीं, गाँधी ने अछूतों को हिन्दू धर्म एवं समुदाय का अभिन्न अंग मानते हुए उनकी समस्याओं की तरफ सवर्णों, विशेषकर उच्च जातियों का ध्यान आकर्षित करने एवं उनके समाधान के लिये उन्हें 'हरिजन' कहा।

यहाँ दो बातों का उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है- एक तो यह कि तत्कालीन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर अपने प्रभुत्वशाली राजनैतिक अस्तित्व तथा अपनी आध्यात्मिक-नैतिक बलशक्ति के बावजूद भी, गाँधी कांग्रेस के अन्य गणमान्य नेताओं को अछूतों का समस्याओं के प्रति पूर्णतया सन्वेदनशील नहीं बना पाये और

न ही उनकी समस्याओं के समाधान हेतु उन्हें कृत-संकल्प करा सके, जो स्वाधीनता के पूर्व और बाद में उन नेताओं के कार्य-कलापों से स्पष्टतया परिलक्षित हुआ। दूसरी बात यह कि गाँधी अछूतों की समस्याओं के संदर्भ में मूलतः राजनैतिक थे, जो उनके आध्यात्मिक-नैतिक आग्रहों में सन्निहित था। अछूतों की समस्याओं के समाधान के प्रति उनकी नीयत पर संदेह न करते हुए, यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि गाँधी वास्तव में इन समस्याओं की जड़ में नहीं पहुँच पाये थे या फिर शायद पहुँचना नहीं चाहते थे। उदाहरण-स्वरूप यह सच है कि अस्पृश्यता हिन्दू जाति-व्यवस्था से निकली हुई है। यह भी सच है कि अस्पृश्यता न केवल जाति-व्यवस्था का अंग है बल्कि वर्ण-व्यवस्था की जड़ में भी यह विद्यमान रही है, चाहे वह वर्ण-व्यवस्था के अन्तिम चरण में ही क्यों न रही हो। इसे हिन्दू धर्मशास्त्रों की सम्पत्ति भी प्राप्त है। गाँधी ने इस तथ्य को पूर्णतया नकारते हुए इसे एक सामाजिक बुराई माना था और उसके उन्मूलन का प्रयास किया था। यही नहीं उन्होंने अस्पृश्यों की आर्थिक, सामाजिक समानता तथा राजनैतिक अधिकारों की माँगों के विरोध में आमरण-अनशन भी किया था उनकी माँगों में उन्हें अस्पृश्यों के हिन्दू धर्म एवं समुदाय से अलग होने की शंका लगती थी। सम्भवतः उन्हें यह भी लगता था कि अछूतों या अस्पृश्यों के अलग हो जाने से भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध उनकी लड़ाई कमजोर पड़ सकती थी और स्वाधीनता प्राप्त करने के उनके स्वप्न के पूरा होने में कठिनाई आ सकती थी।

गाँधी एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अतिरिक्त अस्पृश्यों की अपनी एक अलग राजनैतिक शक्ति थी जो देश के अलग-अलग प्रान्तों में उनके सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक न्याय के साथ-साथ राजनैतिक अधिकार के लिए संघर्षरत थी। उनके इस छिट-पुट संघर्ष ने इस शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भ में ही एक देशव्यापी रूप ले लिया था, जिसका नेतृत्व मुख्यतया डॉ. अम्बेडकर के हाथों में आ गया था। यह सच है कि सन् 1930 तक राष्ट्रीय स्तर पर अस्पृश्यों का तथाकथित नेतृत्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हाथ में था। लेकिन यह भी एक सर्व-विदित तथ्य है कि लंदन में होने वाले तीन गोलमेज अधिवेशनों में सक्रिय भूमिका निभाने और 1932 में पूना-पैक्ट के अन्तर्गत अस्पृश्यों को राजनैतिक आरक्षण दिलाने के बाद, उनका नेतृत्व पूर्णतया डॉ. अम्बेडकर के हाथ में था, यद्यपि अस्पृश्यों की एक बहुत बड़ी संख्या अभी भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ थी। बहरहाल, यहाँ इस विषय पर विस्तृत चर्चा न करते हुए इतना कहना आवश्यक है कि अम्बेडकर एवं उनके राजनैतिक सहयोगियों ने देश के इतिहास में अस्पृश्यता एवं अस्पृश्यों की समस्याओं को पहली बार एक राजनीतिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया और उसके समाधान के लिये राजनैतिक प्रक्रिया को अपनाया। अकेले अम्बेडकर ने ही अस्पृश्यों को दलित बनने, आत्म-सम्मान से जीने एवं अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का रास्ता दिखाया। अपनी शोधपूर्ण अनेकों पुस्तकों, लेखों एवं आम-व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने दलितों की समस्याओं का वैज्ञानिक कारण खोजकर, उसके निराकरण का उपाय सुझाया तथा उसे कार्य-रूप में परिणित करने का सतत् प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने दलितों को आत्म-चेतना, सम्मान, न्याय व समानता की प्राप्ति के लिए जनतांत्रिक एवं शान्तिपूर्ण संघर्ष के लिए प्रेरित किया।

यह बात सर्वविदित है कि 1935 के ब्रिटिश गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के अन्तर्गत अस्पृश्यों को अनुसूचित या परिगणित जाति की पहचान मिली, जिसके अन्तर्गत उन्हें राजनैतिक, शैक्षिक एवं सरकारी सेवाओं में आरक्षण का अधिकार मिला, जिसे बाद में 1950 में स्वतंत्र भारत के संविधान में विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप में समाहित कर लिया गया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि हिन्दू अनुसूचित-जातियों के अलावा सिक्ख धर्म में सपरिवर्तित

अस्पृश्यों को भी अनुसूचित-जातियों की श्रेणी में रखते हुए आरक्षण का सीधा लाभ पाने के लिये पात्र माना गया। स्वतंत्रता-पूर्व अनुसूचित-जातियों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक उत्थान के लिए सतत् प्रयासों के दौरान अम्बेडकर ने देश में एक नये समाज के निर्माण की परिकल्पना की थी, जिसे उन्होंने 1936 में ही सर्वविदित किया था। उनकी यह परिकल्पना समता, स्वतंत्रता, भाईचारा एवं सामाजिक-न्याय पर आधारित थी। बाद में 1950 में संविधान-निर्मात्री समिति के अध्यक्ष के रूप में वे अपनी इस परिकल्पना को संविधान में समाहित कराने में सफल हुए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से, जैसा कि ऊपर कहा गया है और जो सर्वविदित भी है, सरकार ने संविधान के अनुसार अनुसूचित-जातियों के सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विकास के लिये अनेकों कानून बनाये हैं और धन व्यय किया है। संविधान की धारा 17 के अनुसार अस्पृश्यता का कानूनी-तौर पर उन्मूलन करके 1955 में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम के अंतर्गत इसे दंडित अपराध घोषित किया गया, जिसे 1976 में संशोधित करके उक्त अधिनियम के कार्यक्षेत्र एवं दण्ड की राशि तथा अवधि को और भी विस्तृत किया गया। इसके अतिरिक्त 1989 में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों (अत्याचार विरोधी) अधिनियम बनाकर उनके जान-माल की सुरक्षा की गारंटी भी दी गई।

यह बात अविवादास्पद है कि स्वतंत्रता के बाद से सरकार ने अनुसूचित-जातियों के कल्याण तथा विकास के लिये शिक्षा एवं सरकारी सेवाओं में आरक्षण पर विशेष बल दिया, जिसके कारण उनमें भी शिक्षित, सरकारी सेवाओं में कार्यरत एवं राजनीति में एक नव माध्यम वर्ग उत्पन्न तो हुआ है पर वह अभी तक अस्पृश्यता तथा अन्य प्रकार के भेद-भाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाया है। इस वर्ग के सदस्य अभी भी अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर स्वयं की सामाजिक पहचान बनाने में संघर्षरत हैं। आरक्षण के अतिरिक्त सरकार ने अनुसूचित-जातियों के विकास के लिये अनेकों प्रकार के संसाधनों का प्रावधान कर रखा है किन्तु इन पर अधिक ध्यान न देने के कारण इस दिशा में इच्छित प्रगति नहीं हो पाई।

कुल मिलाकर अनुसूचित-जातियों के लिये कार्यान्वित सभी प्रावधानों-चाहे वह आरक्षण से सम्बन्धित हो या उनके सामाजिक-आर्थिक विकास अथवा उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिये अत्याचार-विरोधी अधिनियम - इनका थोड़ा बहुत लाभ उन्हें अवश्य मिल पाया है लेकिन पिछले 50 वर्षों में जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, वे अभी भी पूरे नहीं हो पाये हैं। आने वाले 50 वर्षों में भी उनके पूरा होने की सम्भावना कम ही लगती है। इसके कारण बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक तो यह कि अनुसूचित-जातियों का सदियों से शोषण होता रहा है जो अभी भी किसी न किसी रूप में जारी है। वास्तव में उनके शोषण एवं उनके प्रति किये गये भेद-भाव तथा उनके ऊपर होने वाले अत्याचारों की एक लम्बी परम्परा रही है जो इस देश की विशेषकर बहु-संख्यक हिन्दू समुदाय की संस्कृति का एक अंग बन चुकी है। ऐसी स्थिति में अनुसूचित-जातियों के विकास एवं उन्हें न्याय दिलाने के सभी प्रावधानों तथा प्रयासों को इस संस्कृति से सतत् विरोधात्मक संघर्ष करना पड़ा है। दूसरे, देश में हिन्दू एवं सिक्ख अनुसूचित-जातियों की संख्या सोलह-सत्रह करोड़ से अधिक है। यदि इसमें मुसलमानों, ईसाइयों आदि में गये हुए अस्पृश्यों को सम्मिलित कर लिया जाये तो यह संख्या बीस करोड़ से भी अधिक हो सकती है। इतनी बड़ी संख्या को देखते हुए सरकार के पास सम्भवतः इतने संसाधन उपलब्ध नहीं हो सकते जिससे अनुसूचित-जातियों के प्रत्येक सदस्य को उचित लाभ व न्याय मिल सके। तीसरे यह कि देश में जिस प्रकार से आर्थिक संसाधनों, विशेषकर नौकरियों और

शिक्षण-संस्थाओं का निजीकरण हो रहा है तथा जिनमें अनुसूचित-जातियों के लिए आरक्षण या उन्हें सामाजिक-न्याय दिलाने की इच्छा-शक्ति नहीं के बराबर है, उसको देखते हुए भविष्य में अनुसूचित-जातियों को समानता एवं सामाजिक-न्याय मिलने की सम्भावनाओं का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अंतिम रूप में, यह कहा जा सकता है कि अनुसूचित-जातियों में विगत पचास वर्षों में एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास है जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में प्रशंसनीय पहल की है, लेकिन आर्थिक संसाधनों के अभाव में इसका इच्छित परिणाम अभी तक उन्हें नहीं मिल पाया है।

नये भारतीय समाज की अवधारणा

ऊपर हमने कहा है कि डॉ. अम्बेडकर ने भारत में एक नये समाज की परिकल्पना की थी जिसे उन्होंने देश के संविधान में कुछ हद तक समाहित भी किया था। अतएव पिछले पचास वर्षों में अनुसूचित-जातियों या दलितों, जिसे उन्होंने स्वयं अपनी सामाजिक-पहचान के रूप में अपनाया है, के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनैतिक विकास के पूर्ण विवरण के अर्न्तगत उनमें होने वाले संवेदात्मक, आत्म-विश्वासी, आशावान और संभावनात्मक परिवर्तन को नकारा नहीं जा सकता। वास्तव में उनमें आये हुए ये सभी परिवर्तन डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी या विचारधारा, उनके क्रियाकलाप, सतत् प्रयास तथा त्याग पर आधारित है जिसकी पुष्टि संविधान में निहित प्रावधानों से पूर्ण-रूपेण होती है। परिणामस्वरूप, दलितों ने एक नये समाज के निर्माण की सम्भावना पर बल दिया है जो पूरी तरह समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा और सामाजिक-न्याय पर आधारित है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह बात उनके अनेक प्रकार के आन्दोलनों से स्पष्ट है चाहे वे आंदोलन मजदूरी की उचित दर दिलाने के लिये किये गये हों, चाहे धर्म-परिवर्तन के लिए या फिर साहित्य लेखन के लिए। इन सभी आन्दोलनों का स्पष्ट लक्ष्य भले ही उनके अस्तित्व से जुड़ा रहा है लेकिन इसका परोक्ष और अत्याधिक अहम् या दूरगामी लक्ष्य, एक नये समाज का निर्माण करना ही रहा है।

यहां एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक है। वह यह कि नये समाज के निर्माण की दलितों की परिकल्पना चाहे भले ही अभी अमूर्त रूप में हो, यह सरकार की या फिर उच्च वर्गों एवं जातियों के बुद्धिजीवियों की परिकल्पना से गुणात्मक तथा संख्यात्मक अर्थों में भिन्न है। जहां समाज-निर्माण की दूसरी प्रकार की परिकल्पना बहुत-हद तक परम्परा से बिल्कुल अलग-हटकर नहीं है और साथ ही उसकी गति भी काफी धीमी है, वहीं नये समाज के निर्माण की दलितों की परिकल्पना परम्परा के बिल्कुल विरुद्ध है और इसकी गति भी अत्यंत तीव्र है। आज का दलित, चाहे वह शहर में या गाँवों में रहता है, नये समाज के निर्माण को शीघ्रताशीघ्र देखने की स्थिति में है। उसे इसमें कितनी सफलता मिलती है यह इस बात पर निर्भर करेगा कि आने वाले वर्षों में उसकी आपसी एकता कितनी बनती है, जिसके सहारे वह अपने आन्दोलन को कितना प्रभावी बना पाएगा। सारांश में दो बातों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। एक यह कि समाज परिवर्तन, तदनुसार नये समाज के क्रमिक निर्माण में दलितों ने प्रारम्भ से ही प्रभावशाली भूमिका निभाई है। आजकल राजनीतिज्ञ एवं बुद्धिजीवी समाज-निर्माण के बजाये राष्ट्र-निर्माण के किसी भी पहलू को लें- चाहे वह कृषि एवं उद्योगों के जरिये आर्थिक विकास का हो या शहरों तथा गाँवों के विकास का हो या फिर यातायात व संचार के साधनों का हो, सब में दलितों ने भले ही श्रमिक के ही रूप में क्यों न हो, महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यहां तक कि वैज्ञानिकी के विकास के स्तर पर भी परोक्ष रूप में ही वैज्ञानिकी की विषय-वस्तु

बनकर ही सही—दलितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन देश में अब तक चले आ रहे प्रतिमानों के आधार पर दलितों के इन योगदानों को नगण्य ही समझा जा रहा है। यही नहीं उन्हें सदैव ही परालम्बी तथा अब तक हुए विकास के लाभों पर आश्रित ही समझा गया है। दूसरी बात यह कि देश के बुद्धिजीवियों ने हमेशा से दलितों को अपनी सोच या अध्ययन की विषय—सामग्री (आबजेक्ट) ही समझा है और कभी भी उन्हें एक कर्ता या नायक (सबजेक्ट या ऐक्टर) के रूप में नहीं माना, चूँकि विषय—वस्तु को किसी भी में तोड़—मरोड़ कर प्रस्तुत किया जा सकता है या उसे कोई भी अर्थ दिया जा सकता है, और अध्ययन—कर्ता या नामक उस जैसा स्वर या रूप देना चाहे, दे सकता है। आज तक भारतीय समाज में दलितों के साथ कुल मिलाकर ऐसा ही किया जाता रहा है चाहे वह राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर पर हो या फिर चेतना और अध्ययन के स्तर पर।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि यदि भारतीय समाज का समुचित विकास करना है, राष्ट्र का निर्माण करना है। या फिर एक नये समाज का निर्माण करना है तो दलितों के सम्यक विकास को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता, साथ ही उनकी कारगर या प्रभावी भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता। नये समाज के निर्माण में उन्हें समान भागीदार बनाना होगा। यह तभी सम्भव है जब प्रस्थापित समाज में चले आ रहे प्राचीन एवं नवीन मूल्यों, परम्पराओं तथा मान्यताओं के बीच समुचित समन्वय स्थापित हो अन्यथा आने वाले वर्षों में हिंसा, दुर्भाव, शोषण, भेदभाव एवं अशान्ति की यथा—स्थिति बनी रहने की पूरी सम्भावना है। ऐसा होने पर डॉ. अम्बेडकर, भारतीय संविधान एवं अन्य मनीषियों की भारत में एक नये समाज की स्थापना की परिकल्पना एक कल्पना—मात्र बनकर रह जायेगी एवं भारतीय समाज कुल मिलाकर एक अविकसित या अर्ध—विकसित समाज बना रहेगा। यही नहीं देश में हो रहे विकास का लाभ इसकी कुल जनसंख्या के एक छोटे से हिस्से तक सिमटकर रह जायेगा एवं समाज असमानता, शोषण, भेद—भाव तथा अन्याय की संस्कृति को किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बनाये रखेगा।

सहायक ग्रंथ सूची

1. दलित विमर्श : 1 (स्थापना) हाशिये की वैचारिकी, सम्पादन — उमा शंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2008.
2. दलित विमर्श : 2 (विवाद) हिस्सेदारी के प्रश्न—प्रतिप्रश्न सम्पादक उमा शंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण—2009.
3. आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन, बी.एल. ग्रोवर, यशपाल एस.चांद एंड कंपनी, नई दिल्ली, आठवां संस्करण—1992.
4. भारत का संविधान : एक परिचय, दुर्गादास बसु, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण—1998.
5. सामाजिक समस्याएँ, राम आहुजा, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, द्वितीय संस्करण—2000.
6. आजादी के बाद भारत : 1947—2000, विपिन चंद्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण—2002.
7. आधुनिकता के आईने में दलित, सम्पादक अभय कुमार दुबे, वाणी, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण—2005.
8. दलित साहित्य और राजनीति — सम्पा. एन. सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2017.